RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-05
Issue-02
February -2020

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[Peer Reviewed Journal]

जैनकालीन भूमि एवं कृषि

डॉ0 राजेश नंदन

पी0 एच0 डी0 इतिहास बी0 एन0 एम0 यू0 मधेपुरा बिहार

भूमि प्रकृति का वह अनुपम उपहार है जो बुनियादी रूप से हमारे जीवन के विकास हेतु अनिवार्य है। मानव सभ्यता के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भूमि सर्वोपरि है। जनसंख्या की आजीविका कृषि पर निर्भर होने के कारण कृषि को आर्थिक विकास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध पाया गया।

भूमि एवं भू–स्वामित्व– भूमि के स्वामित्व को लेकर प्राचीन काल से मतभेद रहा है। कुछ विचारक का कहना है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व था तो कुछ का कहना है उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व था। किन्तु कुछ दृष्टान्त से पता चलता है कि भूमि पर यदा–कदा सम्मिलित स्वामित्व का विकास हुआ। उस समय आर्य भारत में आकर अपना विस्तार कर रहे थे तथा विभिन्न प्रकारों से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार के साथ–साथ समूहगत अधिकार भी था। हलांकि भूमि–स्वामित्व के विकास में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्षों का योग रहा है। सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार भूमि पर राजा का स्वामित्व दृष्टिगत होता है। समय–समय राजा भूमि को गॉव के ब्राह्मणों, मंदिरो और विहारों को प्रदान किये जो उसके भूमिस्वामित्व को व्यक्त करते है। यद्यपि इसके विपरीत व्यक्तिगत रूप से भी भूमि दान में प्रदान की गई है, जो व्यक्ति के स्वामित्व को अभिव्यक्त करती है।

व्यावहारिक पक्ष के अनुसार भी भूमि अलग–अलग व्यक्तियों के अधिकार में थी जिसका वे स्वतंत्र रूप से आदान–प्रदान और क्रय–विक्रय कर सकते थे। अपने भूमि–क्षेत्र का अपने इच्छानुसार उपयोग कर सकते थे। इसलिए भू–स्वामित्व सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों तत्वों से प्रभावित होता रहा है। किन्तु समग्र रूप से साम्राज्य की सभी वस्तुएं राजा के अधीन रहती थी। इसप्रकार भूमि भी उसके नियंत्रण में रहती थी और कृषक उसका व्यक्तिगत रूप से उपयोग करता था।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है भूमि सभी लोगों की सम्पत्ति है। जैमिनी ने मीमांसा का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि पृथ्वी पर सबका समान अधिकार है। शबर स्वामिन कि अनुसार राज्य की समस्त भूमि और व्यक्तिगत भूमि में अन्तर था उसके अनुसार राजा भूमि को सुरक्षा प्रदान करने के कारण उपज से केवल अपना 'भाग' ले सकने का अधिकारी था, भूमि पर उसका कोई अधिकार नहीं था। इस भूमि–सवामित्व को लेकर परवर्त्ती काल के शास्त्रकारों में मत वैभिन्न था। पूर्वमध्ययुगीन भाष्यकार विश्वरूप तथा शास्त्रकार देवलभट्ट ने भूमि पर वास्तविक अधिकार को लेकर चर्चा की है। व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार करते हुए लक्ष्मीघर ने कृत्यकल्पतरू में यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति को भूमि सम्बंधी सभी कार्य करने और दान में देने का अधिकार है। इस सम्बंध में किये जाने वाले हस्तक्षेप पर वह उसके विरूद्ध वैधानिक कार्य कर सकता था। अग्नि पुराण ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है।

याज्ञवल्य, वृहस्पति आदि अन्य स्मृतिकारों ने व्यक्तिगत भूमि–स्वामित्व की चर्चा की है। स्पष्ट है कि भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व था। भूमि आदि की सुरक्षा करने के कारण राजा को उसका भाग प्राप्त होता था। गौतम के अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय करने हाथ में प्राप्त करने से होता था। मनु ने राजा के भूमि–स्वामित्व का अपना विचार परिवर्तित करके उसे व्यक्ति हित में किया। मनु के मत का नारद, कात्यायन और गौतम जैसे शास्त्रकारो ने विस्तार से विवेचन किया है तथा व्यक्तिगत भूमि–स्वामित्व का प्रतिपादन किया है। मेधातिथि में व्यक्तिगत भूमि–स्वामित्व सम्बंधी विचार का विकास किया है। यह बात और है कि उसने अपने भाष्य में एक स्थल पर मनु के साम्राज्यीय विचार का समर्थन किया।

भूमि के सामुदायिक स्वामित्व की प्रथा बहुत पुरानी है और लगता है, इस प्रथा का सम्बन्ध उत्तर कुरूओं से हो। महाभारत से ज्ञात होता है कि वे लोग धर्मनिष्ठ होते थे। वैशम्पायन नेदुष्यन्त की समृद्धि के दिनों के कुरू देश की चर्चा की है। 'दीर्घनिकाय' के अनुसार वे किसी की भी सम्पत्ति को अपनी नहीं कहते थे, किसी भी महिला को कुलटा नहीं कहते थे और उनकी धरती बिना प्रयास के फसल देती थी। एक जातक में गांव की आम सम्पत्ति का निर्देश है । 'ग्रामखेत्त' के चारों ओर की चरागाह (ब्रज) सारे गांववालों के सामान्य उपभोग और स्वामित्व में रहती थी। शाक्य और कोलिय लोग अपनी जन–जातीय भूमि को सामूहिक उद्यम के रूप में आबाद करते थे। वास्तविक श्रम तो दास लोग करते थे। भूमि राजकुलों के बीच भी साझेदारी में रखी जाती थी। स्ताबोने भी बताया है कि बहुत से परिवार मिल–जुलकर खेती करते थे और उपज जमा होने पर हर परिवार सालभर के निर्वाह के लायक अपना हिस्सा ले जाता था; फिर भी 'अर्थशास्त्र से यह लक्षित होता है कि सामुदायिक स्वामित्व धीरे–धीरे घटता गया।

सामुदायिक स्वामित्व की परिभाषा भूमि के ऐसे स्वामित्व के रूप में की जा सकती है जिसमें ग्रामवासियों को विभक्त चाहे अविभक्त किसी भी अधिकार को भावना नहीं रहती है, सभी जमीन को जोतने–कोड़ने और फसल उगाने में साथ–साथ खटते हैं और उपज सामान्य भंडार में जमा

RRIJM 2015, All Rights Reserved

करते हैं। वैदिक साहित्य में सामुदायिक स्वामित्व वाली सम्पति के अर्थ में सामुदायिक सम्पत्ति का कहीं उल्लेख नहीं है और न कहीं सामुदायिक खेती का उल्लेख है। सामुदायिक स्वामित्व का अर्थ संयुक्त स्वामित्व लगाना भ्रान्त होगा। सामुदायिक स्वामित्व की प्रथा सम्भवतः गणतन्त्रों में प्रचलित थी। गाँवों में चरागाह आम जमीन होती थी। कौटिल्य और मनु दोनों ने बताया है कि राजा को आम चरागाह क लिए विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। मनु और विष्णु ने गोचर भूमि को अविभाज्य कहा है। ग्राम–समुदाय अपना सामुदायिक कर्मानुष्ठान कृषि के अनुपयुक्त परती और चरागाह की जमीन में करता था। नौवीं शताब्दी के एक ग्वालियर के पुरा लेख में एक ऐसे भूखंड का दान अभिलिखित है जो गांव का था और इस स्रोत से यह स्पष्ट है कि यहां निकायरूपी पुरूष विधिमान्य स्वामी है। सामुदायिक स्वामित्व का अनुवर्तमन अवशेष देश के कुछ भागों में बना रहा। कौटिल्य ने नगर–निवेश के सिलसिले में भूमि के निकाय–गत स्वामित्व का निर्देश किया है।

सामुदायिक स्वामित्व की सारी परिकल्पना यूनानी लेखकों द्वारा दिए गए एक हवाले के आधार पर खड़ी की गई है और ऐसा माना जाता है कि यह सामुदायिक स्वामित्व आदिम ग्राम–व्यवस्था का अवशेष है। नियार्कस के अनुसार उत्तर–पश्चिम भारत में बन्धुत्व के आधार पर कई वर्गो के लोग मिल–जुलकर खेती करते थे। होपकिन्स का मत है कि संयुक्त परिवार, जहां आज भी आदिकालीन सामुदायिक स्वामित्व का अवशेष देखा जाता है, ऐसे सभी अवशेषों को सम्पुष्ट करता है, पर प्राचीन भारत में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के सिद्धान्त के व्यवहार में गुंजाईश बहुत सीमित है। जातकों से हमें ज्ञात होता है कि 'ग्रामखेत्त' के चतुर्दिक गोचरभूमि की पट्टी तथा साफ न की गई परती व जंगल सारे ग्रामवासियों के सामान्य उपभोग में रहते थे। अर्थशास्त्र से सहकारिता की भावना का अस्तित्व तो झलकता है, लेकिन इससे सामुदायिक स्वामित्व का भ्रम नहीं करना चाहिए और अभी हमें जितनी जानकारी है, एसा मान बैठना ठीक न होगा कि गाँवों में खेती की जमीन में भी सामुदायिक स्वामित्व था। पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी, जहां जनजातीय संयुक्त गांव होते थे, सामुदायिक स्वामित्व निजी स्वामित्व के साथ–साथ ही जीवित था, भले ही निजी स्वामित्व का रूप कुछ भिन्न रहा हो।

भूमि के राजगत या राज्यगत स्वामित्व के बारे में साहित्यिक स्रोतों में जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्देश मिलते हैं, वे अक्सर भ्रान्ति पैदा करने वाले और परस्पर विरूद्ध हैं। स्राबो ने कहा है–''सारा देश राजा के स्वामित्व में रहता है और काश्तकार जो इसे जोतता है, वह उपज की चौथाई चुकाने के साथ–साथ लगान चुकाने के पट्टे पर ही।'' एरियन ने स्वामित्व के बारे में कोई खास बात नहीं कही है। चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी अभिलेखों में राजा के सैद्धान्तिक सर्वोपरि प्रभुत्वाधिकार का ही संकेत मिलता है। मेघातिथि के आधार पर बुहलकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राजा सारी भूमि का स्वामी होता है।। प्रजा अपनी रक्षा के प्रतिफलस्वरूप राजा को कर देती थी। सम्राट् राजकीय भूमि से लगान पाने का हकदार होता था और काश्तकार उसके असामी (केवल धारक) होते थे। जैमिनी अपने 'मीमांसासूत्र' में बताते हैं कि सम्राट् सारी भूमि का दान नहीं कर सकता है; क्योंकि धरती सबों की है। काशी प्रसाद जायसवाल राजयगत स्वामित्व का एकदम खंडनकरते हैं। 'जैमिनिसूत्र' के भाष्यकार शबरस्वामी का कहना कि धरती पर औरों को भी उतना हो अधिकार है जितना सम्राट् का।

यह विषय बड़ा विवादास्पद है और किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना बड़ा कठिन है। एम0एच0 गोपाल के अनुसार, यह राजगत स्वामित्व एक तरह का शाश्वत पट्टा था जो एक जिम्मेवारी अदा करने के लिए साल–ब–साल धारित रहता था। वे एफ0 डब्लू0 टॉमस के इस विचार से सहमत हैं कि राजा उसी हद तक भूमि का मालिक होता था, जहां तक वह राजस्व का हकदार था और चूक करने वाले काश्तकारों को उसकी धृति (होल्डिंग) से हटाकर दूसरे काश्तकारों को लाने का अधिकार रखता था। गोपाल मानते हैं कि भूमि–व्यवस्था का मूलाधार था प्रभुसत्ता के अधीन रहते हुए भूमि–धारण। न तो निजी भूमि–सम्पत्ति का सिद्धात अकाट्य माना जाता था और न राजा के ऐसे अधिकारों के दावे का खंडन किया जाता था। यह धारण है कि राजा सारी भूमि का स्वामी होता है। इस आधार पर बनी थी कि वह उपज में अंश (राजस्व) पाने का हकदार था। कई क्षेत्रों में राजा को इससे अधिक व्यापक अधिकार की भावना भी लक्षित होती है।

कृषि– कृषि जीविकोपार्जन का प्रधान आधार था। अधिकाधिक लोग कृषि कार्य में ही संलग्न रहते थे। वैश्य लोग कृषि कर्म से सम्बद्ध थे। साख्यायन गृहसूत्र से ज्ञात होता है कि उस काल में बैलों द्वारा हल चलवाया जाता था। हल चलाते समय मंत्रों की अभिव्यक्ति की जाती थी ताकि फसल अच्छी तथा पुष्ट हो।

कृषि कार्य में ब्राह्मण–पुरोहित और क्षत्रियों का कोई योग नहीं था। वैश्य वर्ण के लोग ही कृषि कर्म से सम्बद्ध थे और वे ही इसके विकास में सतत् प्रयत्नशील रहते थे। खेतों पर शूद्रों से श्रम कार्य कराया जाता था जो अनेक प्रकार से खेतों की देखभाल करते थे। वे खेतों को हल से जोतते थे, जिसकी मूठ लकड़ी की होती थी। हल में बंधे मोटे लम्बे बांस को 'इषा' कहते थे जिसके उपर जुआ रहता था। हल भारी एवं बड़ा होता था इसलिए उसे छह, आठ, बारह या चौबिस बैल खीचते थे। कृषि को मनोनुकूल एवं सफल बनाने के लिए वे इन्द्र, पूषन, शुनःसी सीता आदि विभिन्न देवी–देवताओं की वन्दना में निमग्न रहते थे। आवृष्टि को रोकने के लिए वे वर्षा के निर्मित स्तुति भी करते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युत्पात आदि से फसल को नष्ट होने से बचाने के लिए वे तन्त्र–मन्त्र का प्रयोग करने से भी नहीं चुकते थे। इस प्रकार अपनी फसल की रक्षा के लिए वे तरह–तरह के पूजन और अर्चन करते थे। उनका विश्वास था कि पराशक्तियों के पूजन–अर्चन से उनके कार्य सफल होंगे।

उत्तरवैदिक काल तक आर्यो का प्रसार सिन्धु घाटी से लेकर गंगा की घाटी तक हो चुका था। उत्तर भारत का यह प्रदेश अत्यन्त उर्वर तथा उपजाऊ था तथा कृषि की

दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त था। ऐसे विशाल और विस्तृत भूभाग में आर्य फैलकर कृषि कार्य में मग्न हो गए थे। फसल का टिड्डियों से सुरक्षित करने के लिए वे अनेक यंत्रों का उपयोग करते थे। उस युग में टिड्डियों के कारण फसल बहुत नष्ट होते थे।

फसले दो प्रकार की होती थी– कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य। कृष्टपच्य उस फसल को कहते थे, जो कृषि द्वारा उत्पन्न की जाती थी, तथा अकृष्टपच्य उसे कहते थे जो स्वतः जंगल आदि विभिन्न स्थानों में उत्पन्न हो जाती थी। इसके अन्तर्गत प्रायः नीवार जैसे जंगली धान्य गृहीत किए जाते थे। अष्टाध्यायी के उल्लेख के अनुसार उस युग में प्रायः तीन फसले बोई जाती थी–एक बसन्त ऋतु मं जिसे वासन्तक कहा जाता था, दूसरी ग्रीष्म ऋतु में जिसे ग्रैष्मक कहा गया था और तीसरी अश्विन में जिसे आश्वयुजक कहा जाता था।

कृषि–योग्य भूमि क्षेत्र के नाम से विख्यात् थी जिसमें विभिन्न फसलें उगाई जाती थी। कृषि के आयोग्य भूमि को उसर माना जाता था जिसमें कुछ भी पैदा नहीं हो पाता था। जुती हुई भूमि को 'हल्य' या 'सीत्य' के नाम से अभिहित किया गया था। जीविका चलाने के लिए पशुपालन भी किया जाता था जहाँ पशु चरते थे उसे गोचर और ब्रज कहा जाता था।

आर्य कृषि के प्रति अधिकाधिक जागरूक तथा उसके प्रबंध मे वे सम्मिलित होते थे। निश्चय ही उसका ज्ञान उन्हें भारत आने के पूर्व ईरान में ही हो चुका था जिसकी पुष्टि अवेस्ता से होती है। आदेस्ता में करेश, हत्थ और यवो शब्द अल्लिखित है जो ऋग्वेद के 'कृष' सत्य और यव से क्रमशः अभिर्व्यजित होते है।

सूत्र–काल में भी कृषि जीविकोपार्जन का प्रधान आधार थी। अधिकाधिक लोग कृषि–कार्य में ही संलग्न रहते थे। वैश्य वर्ग के लोग कृषि–कर्म से सम्बद्ध थे। 'साख्यायन गृह्यसूत्र' से विदित होता है कि उस काल में बैलों द्वारा हल चलवाया जाता था। हल चलाते समय मंत्रों की अभिव्यक्ति की जाती थी ताकि फसल अच्छी हो। धान्य और यव उस काल की प्रमुख फसल थे। उस समय भी बंजर अथवा ऊसर भूमि रहती थी जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं हो पाता था। कृषि के साथ–साथ पशुपालन भी प्रधान धंधा था तथा विभिन्न पशुओं को विस्तृत भू–क्षेत्र में चराया जाता था। गाय, बैल, महिष, भेड़, बकरी, घोड़े, गदहे आदि अनेक प्रकार के पशु पाले जाते थे, जिनसे भार और सवारी गाड़ी चलाई जाती थी। व्यापारी वर्ग अनाज आदि विभिन्न सामानों को लादकर दूरवर्ती प्रदेशों तक जाते थे और क्रय–विक्रय करके अपने निवास–स्थान पर लौटते थे।

जैन साहित्य में भी कृषि से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। तीन प्रकार की फसलें उस युग में भी उत्पन्न की जाती थीं– 'क्षैत्रिक', 'आरामिक' 'आटविक'। जो वस्तु खेतों में उत्पन्न होती थी वह 'क्षैत्रिक' कही जाती थी, जो उद्यानों और आरामों में पैदा की जाती थी वह 'आरामिक' तथा जो जंगलों में उत्पन्न होती थी वह 'आटविक'। क्षैत्रिक भूमि भी दो तरह की होती थी– एक 'सेतु' और दूसरी 'केतु'। 'सेतु' नामक भूमि संचाई के कृत्रिम साधनों से सिंचित होती थी तथा 'केतु' नामक भूमि की सिंचाई वर्षा पर निर्भर करती थी। हल को 'कुलिय' और 'नंगल' कहा जाता था। साधन–सपन्न व्यक्तियों के खेतों पर अधिक व्यक्ति काम करते थे तथा अधिक ख्याल में हल चलते थे। अनाज को 'असिएहि' से काटते थे तथा 'सुप्पकत्तर' से साफ करते थे। अनेक प्रकार के अनाजों का उल्लेख जैन साहित्य में हुआ है। यव, व्रीहि, गाधूम, शालि, माष, चणक (चना), मुद्ग, इच्छु (गन्ना), कप्पास, खोभ, उण्णिय, लवंग, पिप्पल, सिगवेर, तम्बोल आदि 'क्षैत्रिक' उपज थे। अनार, अंगूर, आम्र, सेब, अंजीर, खजूर आदि विविध फल और युथिका, मल्लिका, चम्पक, मोगर, कुन्द, वासन्ती आदि विभिन्न प्रकार के फूल 'आरामिक' उपज के अन्तग्रत आते थे। जम्बू, अशोक, पलाश, दाडिम, बिल्व, चन्दन आदि 'आटविक' उपज थे।

गौर्ययुगीन युनानी लेखकों ने भी भारतीय भूमि की उर्वरता की प्रशंसा की है तथा विभिन्न प्रकार के अनाजों और फलों का उल्लेख किया है। धान, गेहूँ, जौ, दाल फल आदि का वर्णन उनके द्वारा हुआ है।

पूर्वमध्य युग तक आकार कृषि का सुव्यवस्थित विकास हो चुका था। अनेक प्रकार के चावल, कोदो, सरसों, प्रियंगु, जर्तिल, निवार आदि की खेती होती थी। मसूर, कलाय, इल्ला और आढ़क की दालें खाई जाती थीं, जिन्हें सुनियोजित ढंग से बोया जाता था। सत्रह प्रकार के अन्नों का उल्लेख मेधातिथि ने किया है। कपूर और अगुरू जैसे मूल्यवान पदार्थो का उत्पादन किया जाता था। शर्करा और इक्षुखंड मिठाइयाँ थीं, जिन्हें उस काल के लोग बड़े चाव से खाते थे। उत्तरी बंगाल (पांडू प्रदेश) में उत्पादित की जानवाली ईख देश में विख्यात थी। उपज को ध्यान में रखकर खेतों का वर्गीकरण किया गया था, फलतः अनेक प्रकार के भूमिखण्ड बन गए थे; जैसे उपजाऊ, बंजर, परती, रेतीली, उच्च, शाड़वल, नड़वल, काली और पीली। भूमि की अपनी पृथक–पृथक विशेषता होती थी। अपनी उन्हीं विशेषताओं के कारण उन भूमिखण्डों में विशेष पदार्थ बोये जाते थे। शालि, व्रीहि, कोद्रव, मुद्ग, माष, सरसों, भंग, अलसी, बाजरी, सब्जी आदि विशेष भूमि में बोई जाती थी। अरब लेखकों ने पश्चिमी भारत की भूमि को अत्यधिक उपजाऊ बताया है जहाँ विभिन्न वस्तुएँ अधिकता से उत्पन्न होती थी। नारियल, बादाम, संतरा, अंगूर, नींबू, आम आदि का विवरण उन लेखकों नेदिया है। हेमचन्द्र ने गोधूम, ज्वार, धान आदि का उल्लेख किया है। सोमदेव के अनुसार यौधेय जनपद की मिट्टी काली थी। सिंचाई का अधिकतर कार्य वर्षा पर निर्भर करता था। श्रमिकों की सहायता से खेत को जोतने और बोने का काम होता था। उस युग में अनेक लोग हल से खेत जोतने के काम में लगे रहते थे। हल से जोत का करनेवाला 'हलजीवी' कहा जाता था। खेत 'क्षेत्र' के नाम से जाना जाता था। खेत का विशेषज्ञ व्यक्ति 'क्षेत्रा' कहलाता था। पूर्वमध्ययुगीन भारत में उपज प्रचुर मात्रा में होती थी जिससे सभी लोग सुखपूर्वक रहते थे। विविध प्रकार के अन्न से तत्कालीन जीवन सुसम्पन्न था। तथा वसुन्धरा के रूप में

पृथ्वी चिन्तामणि के समान शस्य–सम्पत्ति विखेरती थी। फसल इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न होती थी कि उनकी लुनाई कर पाना, लुने धान्य की दौनी कर पाना, दौनी किये गए धान्य को इकट्ठा कर पाना अत्यन्त श्रमसाध्य और कठिन कार्य था। इस प्रकार अन्न से सम्पन्न होने के कारण लोगों को ऐसा प्रतीत होता था जैसे पृथ्वी स्वर्ग से कल्पदुमों की शोभा लूट रही है। 'अनुर्वर' भूमि को 'उषर' कहा जाता था। ऐसी मूर्ख के लिए तत्वोपदेश के समान थी जिसे जोतना, बोना और सीचना निरर्थक था।

लक्ष्मीधर ने 'गोधूम' के नाम से गेहूं की व्याख्या की है। चंडेश्वर ने भी अन्य अनाजों के साथ गेहूँ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने धान्य अथवा फसल उत्पन्न होनेवाली भूमि को 'क्षेत्र' कहा है। मूंग, प्रियंगु, तिल, व्रीहि, कोदो आदि अनाजों के नाम पर अलग–अलग खेत के नाम थे। हरी फसल बोई जानेवाली भूमि को 'केदार' कहा जाता था। सूखी भूमि को 'ऊषर क्षेत्र कहते थे। कुछ ऐसी भूमि थी, जिसे कृषियोग्य बनाया जाता था। खेतों की नाम 'माण्ड' के रूप में की जाती थी। एक काण्ड का क्षेत्रफल 24–24 वर्गफुट होता था, दो कांडों का क्षेत्रफल 48–24 तथा तीन काण्डों का क्षेत्रफल 72–24। जोतने को 'कर्ष' कहते थे। कभी–कभी दो तीन बार खेत जोते जाते थे। खेत जोतने में हल को उलटा और तिरछा करके भी चलाया जाता था ताकि भूमि की मिट्टी बोवाई के निमित्त अधिक भुरभुरी हो जाय। लोहे के फल लगे हुए हल को 'शम्ब' कहते थे। इससे गहरी जोताई होती थी। इस प्रकार का लोहे के फलवाला हल साधारणतः अन्य हलों से बड़ा होता था तथा उससे जोताई गहरी और व्यवस्थित होती थी। भूमि के विस्तार और आधिक्य के अनुसार खेत जोतने के लिए एक हल, और तीन हल भी चलते थे। 'परम हल' उत्तम हल' और 'बहु हल' भी होते थे। एक हल की भूमि 1 2/3, दो हलों की 22/33 और तीन हलों की चार एकड़। हल में जोता हुआ बैल 'हालिके' या 'सारिक' कहा जाता था। किसान अथवा कृषक को 'अहल' (जिनके पास अपना हल नहीं होता था), 'सुहल' (जिनके पास अपना अच्छा हल होता था) और दुर्हल को 'अहल' (जिनके पास अपना हल नहीं होता था), 'सुहल' (जिनके पास अपना अच्छा हल होता था) और दुर्हल (जिनका हल पुराना और खराब होता था) कहा जाता था। यही नहीं, किसान के लिए अनेक शबद व्यवहृत होते थे, जैसे, 'कुटुम्बी', 'कर्षक', क्षेत्री, 'हली', कृषिबल' (अथवा 'क्षेत्राजीव') सीरस्त आदि। बीज को वे क्षेत्र में प्रायः छीटकर बाते थे। फसल पक जाने पर वे कटनी–लवनी करते थे। फसल काटनेवाले को वे लोग लूनक कहते थे। खलिहान में लाने के बाद फसल की मड़नी करते थे, जिसमें सभी अनाजों के भूसे होते थे, यद्यपि जौ के भूसे के ढेर के लिए अलग शब्द व्यवहृत होता था जिसे यवबुसभ् कहते थे। वर्ष में चार प्रकार की फसले बोई जाती थी– (1) शारदा, जो फसल शदर ऋतु में बोयी जाती थी, (2) हैमन्त, जो फसल हेमन्त ऋतु में बोयी जाती थी, (3) ग्रैष्मक, जो फसल आश्विन में बोयी जाती थी। अगहन में पकनेवाली फसल को आग्रहायणिक कहते थे, बसन्त में पकनेवाली फसल को वासन्त्य, शरद में पकनेवाली फसल को शारदा और शिशिर में पकनेवाली फसल को शैशिरा।

संदर्भ सूचीः–

1. जातक 2, 99
2. ऋग्वेद 4, 8, 6, 48, 10, 101.
3. बही 7, 10, 48.
4. बही 10, 71, 2.
5. बही 70, 94, 13.
6. अष्टाध्यायी, 5, 2, 11, 2, 3, 2, 183, 3, 21, 2, 1, 117, 4.
7. वही, 5.5.2, 5.2.3, 5.2.4,
8. वही, 8.4.5, 4.4.103.
9. वही, 4.1.12.
10. महाभारत, शान्तिपर्व, 5.77–80.
11. महाभाष्य, 3.1.26,
12. वही, 5.2.112
13. वही, 1.2.72
14. वही, 4.4.91
15. वही, 4.4.97
16. वही, 2.3.19 .
17. वही, 3.3.133.
18. वही, 7.3.1, 1.3.12,
19. कामंदकी नीतिसार, 2.14
20. बृहत्संहिता, 5.21, 9.42, 10.18, 27.1,
21. अमरकोश, 2.9, 3.9
22. हर्षचरित– 3
23. बील, पृष्ठ– 43–44
24. बृहत्संहिता, 9.42. 10.18 आदि।
25. रघुवंश, 4.67,
26. अमरकोश, 2.124
27. वाटर्स, 1, पृष्ठ– 261, 298
28. रघुवंश, 4.45.48,
29. मेघदूत, 16
30. बृहत्संहिता, 2.6.9
31. जूनागढ़ अभिलेख,
32. अभिधान रत्नमाला, 2.4421.29
33. मेधातिथि, मनु0 8320
34. वही, 8326
35. वही, 8321
36. काव्यमीमांसा, 12
37. अभिधान रत्नमाला, 2.3.6
38. इलिहयट ऐड डाउसन, 1, पृष्ठ– 15, 16, 24
39. देशीनाममाला, 8.8
40. यशस्तिलक, पृष्ठ– 13
41. अमरकोश, 2.6.31,

RRIJM 2015, All Rights Reserved